पचरंगी चोला

श्रीभगवान सिंह

भक्ति आंदोलन की कवि-पुंगव-मंडली में निर्विवाद रूप से मीरां का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है, किन्तु उनकी छवि एक श्रेष्ठ लोकप्रिय एवं सामाजिक सरोकार रखने वाली कवयित्री के बजाय एक कृष्ण-भक्तिन, श्री कृष्ण के प्रेम में रची-बसी एक प्रेमिका, एक विरहिणी, एक सन्यासिनी, 'लोक-लाज तज कर पग घुंघरू बाँध' नाचनेवाली के रूप में चर्चित अधिक रही है। हाल के वर्षों में उभरे स्त्रीवादी विमर्शकारों ने इस छवि पर रंग-रोगन चढ़ाते हुए मीरां की छवि को पितृसत्तात्मक एवं पुरूष-वर्चस्ववादी समाज द्वारा प्रताड़ित, लांछित, उपेक्षित, दाम्पत्य-प्रेम से वंचिता नारी के रूप में उकेर कर रख दिया। निस्संदेह इसके पीछे उन जनश्रुतियों, किंवदंतियों तथा ऐतिहासिक-अनैतिहासिक आख्यानों का योगदान रहा है जो मीरां के परवर्ती काल में गढ़े, निर्मित किये गये। नतीजा हुआ कि जहाँ निर्गुनिया भक्त कवियों के संबंध में सामाजिक विद्रोह, क्रांति की, तो सगुण भक्त कवियों के काव्य में सामाजिक सरोकारों की खूब चर्चा होती रही, वहीं मीरा के काव्य-संसार में रूपायित इन मूल्यों की ओर आलोचकों का ध्यान नहीं जा सका और मीरा की समग्रता में विद्यमान छवि सामने आने से रह गयी। इन सब बातों को देखते हुए डॉ. माधव हाड़ा की हाल में प्रकाशित पुस्तक 'पचरंग चोला पहर सखी री' मीरां को उनके समकालीन समाज के संदर्भ में सही-सही रूप में देखने-समझने का एक नया प्रकाशपुंज बन कर सामने आई है।

नाना इतिहास-ग्रंथों, जनश्रुतियों, लोक-आख्यानों का गहन मंथन, अवगाहन करते हुए माधव हाड़ा इस तथ्य से अवगत कराते हैं कि मीरां (जन्म 1498 ई.-मृत्यु 1548

से 60-65 के बीच अनुमानित) महज एक असहाय, निस्तेज, दुख की मारी, करुणा विगलित, 'अबला जीवन, आँचल में दूध और आँखों में पानी' जैसी उक्तियों को चरितार्थ करने वाली नारी नहीं थी, बल्कि उसके एक दर्प का तेज था, स्वाभिमान का ताप था और थी भक्ति की स्निग्धता। डॉ. हाड़ा के शब्दों में, 'वह (मीरां) पगली-दीवानी भक्ति में डूबी स्त्री नहीं थी। उसका लालन-पालन एक स्वाभिमानी, आत्मनिर्भर और जीवन की उठापटक से अवगत विवेकवान युवती के रूप में हुआ था। वह भगवाधारी, असहाय और दीनहीन साध्वी भी नहीं थी। उसके आर्थिक स्वावलम्बन के पारम्पारिक प्रावधान थे और उसे मजबूत सामाजिक सुरक्षा प्राप्त थी।'

आमतौर पर यह धारणा प्रचलित रही है कि मीरां के अपने पति भोजराज से अच्छे संबंध नहीं थे, उसका दाम्पत्य जीवन कटुतापूर्ण था और उसने पति से विद्रोह करके भक्ति-मार्ग का अनुगमन किया। यह बात गुजरात में भी इतनी प्रसिद्ध थी कि गांधी जी भी अपने एक लेख में यह लिख गये कि ''मीराबाई ने अपनी आत्मा की आवाज पर अपने पति को नाराज कर दिया था, उससे अलग रहने में ही संतोष माना और पति की इच्छा के आगे झुकाने के लिए उसे जो भी कष्ट दिये गये बताये जाते हैं, उन्हें निर्विकार मन से शांतिपूर्वक सहन किया। प्रह्लाद और मीराबाई, इन दोनों ने सत्याग्रह का पालन किया।'' (सम्पूर्ण गांधी वांगमय, खंड 17, पृ. 171) लेकिन डॉ. हाड़ा जो तथ्य प्रस्तुत करते हैं, वे सब इसके एकदम विपरीत हैं। उनके अनुसार ''मीरां का आरम्भिक वैवाहिक जीवन कुछ मामूली प्रतिरोधों और दैनन्दिन ईष्या-द्वेषों के अलावा कमोबेश सुखी था। उसके अपने पति भोजराज से संबंध सामान्य थे। मीरां की कविता में जिस राणा से तनावपूर्ण संबंध और नाराजगी का बार-बार उल्लेख आता है वह भोजराज नहीं है। भोजराज तो सत्तारूढ़ ही नहीं हुआ और राणा सांगा के जीवित रहते ही उसका निधन हो गया, इसलिए यह संज्ञा उससे संबंधित हो ही नहीं सकती। राणा संज्ञा उसने अपने सत्तारूढ़ मूर्ख और छिछोरे देवर विक्रमादित्य (1531-1536) के लिए प्रयुक्त की है।'' (पृ. 25)

प्रसंगवश जान लेना आवश्यक है कि यह वही राणा सांगा थे जिनका खानवा में बाबर से युद्ध हुआ था और इन्हीं की अटठाइस पत्नियों से पैदा हुए सात पुत्रों में सबसे बड़े पुत्र भोजराज के साथ मीरा का विवाह हुआ था। यह भोजराज अपने पिता राणा सांगा के जीवन काल में ही स्वर्गवासी हो गया। फिर उसके बाद राणा सांगा का दूसरा बेटा रत्न सिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा लेकिन उसका भी अल्प समय में निधन हो गया। तत्पश्चात सांगा का तीसरा बेटा बिक्रमादित्य मेवाड़ का शासक बना और उसने राणा संज्ञा धारण की। यह विक्रमादित्य दुष्ट प्रकृति का था और इसी ने विधवा मीराबाई को प्रताड़ित भी किया। मीरा जिस राणा को विष का प्याला भेजने वाला बताती है वह यही विक्रमादित्य था न कि मीरा के पति भोजराज थे। विक्रमादित्य के मरने के बाद राणा सांगा के चौथे पुत्र उदय सिंह मेवाड के शासक बने जिन्होंने उदयपुर शहर बसाया। इन्हीं उदय सिंह के पुत्र विख्यात महाराणा प्रताप हुए जिन्होंने अकबरी सलतनत से लोहा लिया था यानी मीरा रिश्ते में महाराणा प्रताप की दादी हुई।

लेकिन यह समझना कि विधवा हो जाने के बाद मीरा सर्वथा असहाय, निराश्रित हो गई, सही नहीं है। वस्तुतः उस समय के सामाजिक रिवाजों के मुताबिक मीरा को भी अपने मायके तथा ससुराल से अपने भरण-पोषण के लिए पर्याप्त जायदाद प्राप्त थी जिनकी बदौलत वह साधु-संतों का आवभगत तथा भंडारा किया करती थीं। डॉ. हाड़ा इस संबंध में उपयोगी

जानकारी देते हैं-''विवाहोपरांत मीरा सर्वथा असहाय और असुरक्षित नहीं थी। उसके आर्थिक स्वावलम्बन का प्रबंध था और उसे कुछ हद तक पारम्परिक सामाजिक सुरक्षा भी प्राप्त थी। सामंतों की बहन-बेटियों को विवाह में दहेज के रूप में पर्याप्त स्त्रीधन दिया जाता था, जो विवाहोपरान्त उनकी निजी सम्पत्ति की तरह रहता था। मीरा को भी परम्परानुसार उसके पीहर पक्ष से पर्याप्त स्त्रीधन मिला था। सामन्त अपनी पत्नियों और बहू-बेटियों को परम्परा के अनुसार आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाते थे। उन्हें जागीरें दी जाती थीं। इनके प्रबंध और आय-व्यय का हिसाब-किताब सामंत स्त्रियाँ स्वतंत्र रूप से अपने कामदारों के माध्यम से करती थीं। इनमें सामन्त अकारण हस्तक्षेप नहीं करते थे। महाराणा सांगा ने अपनी पुत्रवधु के आर्थिक स्वावलम्बन के व्यापक प्रबंध किये थे। उसे विवाहोपरान्त मेवाड़ के पुर और मांडल के परगने हाथ खर्च के लिए जागीर के रूप में दिये थे।'' (पृ. 29) ये तथ्य जहाँ मीरां के आर्थिक स्वावलम्बन के प्रमाण हैं, वहीं आज के स्त्रीवादियों के इस आरोप का भी खंडन है कि सामंती समाज में स्त्रियाँ दासी मात्र थीं, उन्हें कोई आर्थिक एवं पारिवारिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

मीरा का दाम्पत्य-जीवन बहुत अल्प अवधि का रहा। विवाह के पाँच-छः वर्षों के बाद ही उसके जीवन में वैधव्य आ धमका। इस वैधव्य से उपजे अवसाद को मीरा ने कृष्णभक्ति में सम्मोजित कर दिया। चूँकि उनके लिखे भजनों की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी, इसलिए बहुत सारे साधु-संत उसके यहाँ आने लगे थे जो उनके देवर राणा विक्रमादित्य को पसंद नहीं था। दूसरे कि मेवाड़ तथा उसके पीहर मेड़ता में राजसत्ता के लिए राजपरिवारों में इतनी षड्यंत्रकारी, ओछी गतिविधियाँ चलती थीं जो मीरा के आध्यात्मिक चित्त को अशांत करने वाली थीं। इससे ऊबकर मीरा पर्याप्त आर्थिक स्वावलम्बन होने के बावजूद शांति की तलाश में वृन्दावन चली गईं। लेकिन वहाँ पर भी जब मनोनुकूल माहौल नहीं मिला, तो वह द्वारिका चली गईं जहाँ से फिर वह कभी नहीं लौटीं। मेड़ता-मेवाड़ से वृन्दावन तथा द्वारिका तक की मीरां की जीवन-यात्रा के पीछे निःसंदेह उसके राजपरिवारों के उत्पीड़न का बहुत बड़ा हाथ था, लेकिन इसे पूरे लोक-समाज का उत्पीड़न नहीं कहा जा सकता। लोक ने तो मीरा के भजनों को अपने चित्त में बसा कर उसके प्रति काफी आदर सम्मान दिया। यहाँ तक कि राणा विक्रमादित्य द्वारा मीरा को दिये गये उत्पीड़न की भी लोक ने काफी भर्त्सना की। डॉ. हाड़ा बताते हैं ''लोक अपनी निन्दा, भर्त्सना और सराहना को उक्तियों और कहावतों के माध्यम से भी व्यक्त करता था। ऐसे कथन लोक में ओखाणे कहलाते थे। ऐसे ओखाणे पीढ़ी-दर-पीढ़ी सदियों तक चलते रहते थे। मीरां को प्रताड़ित और परेशान करने में सहयोगी और षड्यंत्रकारी एक विजयवर्गीय महाजन, एक गुर्जरगौड़ और एक दाहिमा जाति के ब्राह्मण के अपराध के लिए सदियों तक लोक ने निन्दा की और भर्त्सना एक ओखाणे से की और यह भी चला दिया कि मीरा के श्राप के कारण ही विजयवर्गीय महाजनों की वंश वृद्धि रुक गयी।'' (पृ. 92) जाहिर है कि मीरा को भले ही राणा विक्रमादित्य और उसके दो-चार सहयोगियों ने प्रताड़ित परेशान किया हो, लेकिन पूरे लोक ने मीरा का आदर-सम्मान ही किया। लोक के साथ-साथ राजपरिवार ने भी मीरा को सम्मान दिया। विक्रमादित्य के बाद उसका सौतेला भाई जब उदय सिंह मेवाड़ का शासक बना तो उसने अपनी भाभी मीरा को द्वारिका से बुला लाने के लिए कुछ ब्राह्मणों को भेजा था, लेकिन खुद मीरा ने मेवाड़ वापस आने से इन्कार कर दिया और वहीं पर कृष्ण की मूर्ति में लीन हो गयी या जल-

समाधि ले ली। लेकिन उनकी कविताएँ लोक-मन में बसती गयीं। अतएव कुछेक स्त्रीवादी विमर्शकारों द्वारा पूरे पुरुष समाज को मीरा को प्रताड़ित करने का अपराधी सिद्ध करना और पुरुष-वर्चस्व का शोक-गीत गाते रहना पूर्णत: सही नहीं है।

मीरा के संबंध में यह धारणा भी काफी प्रचलित है कि वे निर्गुण संत कवि रैदास की शिष्या थीं। इस धारणा का आधार मीरां की उन कविताओं का अन्त: साक्ष्य है जहाँ वे रैदास का बार-बार गुरू के रूप में सादर स्मरण करती हैं। लेकिन इस पुस्तक में प्रस्तुत तथ्यों के आलोक में यह धारणा भ्रामक सिद्ध होती है। यह लगभग सर्वमान्य है कि रैदास रामानंद के शिष्य और कबीर के समकालीन सन्त-भक्त थे। उनका जन्म 1376 ई. और निधन 1506 ई. में अनुमानित है। अगर मीरा का जन्म 1498 ई. का माना जाए, तो फिर उनका रैदास का सीधे-सीधे शिष्या होना तथ्यधारित नहीं लगता। इस संबंध में डॉ. हाड़ा का यह मंतव्य गौरतलब है-''मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के दौरान जनसाधारण सभी तरह के सन्त-भक्तों का सम्मान करता था और उनसे प्रभावित होने पर उनके प्रति अनौपचारिक गुरुभाव रखता था। इस आंदोलन में कई सन्त-भक्त निम्न जातियों से थे। आरम्भिक कुछ अन्तर्बाधाओं के हट जाने के बाद वे स्वीकार्य और सम्मानित हो जाते थे तो उनसे मेलजोल की वर्जनाएँ नहीं रहती थीं। राजस्थान के मेवाड़-मारवाड़ में ऐसे कई सन्त हुए जिनका जनसाधारण और सामन्त समाज में सम्मान और स्वीकार्यता थी। झाली रानी के रैदास से औपचारिक दीक्षा लेने के प्रकरण से सिद्ध है कि सम्भवतया मीरा झाली रानी रतनकंवर से घनिष्ठता और सम्पर्क के कारण रैदास से प्रभावित रही होगी और इस कारण उसके मन में उनके प्रति अनौपचारिक गुरुभाव रहा होगा। एक सामन्त स्त्री और एक निम्न जाति के सन्त के बीच का यह संबंध जन भावनाओं और आकाँक्षाओं के अनुसार था, इसलिए खूब प्रचारित हुआ। इसको लेकर जनसाधारण ने कई कहानियाँ गढ़ी और उनको भजनों में गूँथ कर खूब गाया।'' (पृ. 37)

इससे स्पष्ट है कि मेवाड़ के राजमहल में झाली रानी, जो उसकी ददिया सास थी जिन्होंने रैदास से औपचारिक दीक्षा ली थी, के सम्पर्क एवं प्रभाव में आकर मीरा ने गुरू परम्परा में रैदास को अपना अनौपचारिक गुरू मान लिया हो। जो भी हो, किन्तु इतना तो साफ है कि उस काल के सामंती समाज में ऊँच-नीच, छूत-अछूत जैसे जितने भी विभेद रहे हों, फिर भी उसमें एक उदार एवं प्रगतिशील धारा भी प्रवहमान थी जिसके अन्तर्गत भक्ति और कविता की गुणवत्ता इन विभेदों को ध्वस्त कर देती थी और निम्न जाति में पैदा होने के बावजूद रैदास जैसे सन्त-भक्त इस सामन्ती समाज में सम्मान और स्वीकार्यता प्राप्त कर लेते थे। मध्यकालीन समाज के इस अंतर्विरोधी सत्य की तरफ हमारे आज के अस्मितावादी विमर्शकारों को जरूर ध्यान देना चाहिए।

मीरा की कविताओं का महत्व अधिकतर कृष्ण भक्ति के चश्में से ही आँका जाता रहा है। लेकिन डॉ. हाड़ा उनकी कविताओं के संबंध यह तथ्य भी उद्घाटित करते हैं कि उनकी कविताओं में केवल भक्ति का ही रंग नहीं है, बल्कि उसमें पारिवारिक, सामाजिक जीवन के भी चित्र हैं, उसमें राजसत्ता के निरंकुश चरित्र के विरोध के तीखे स्वर भी हैं। इस दृष्टि से मीरा के काव्य का महत्व कबीर आदि निर्गुनिया भक्त कवियों के काव्य से भी अधिक हो जाता है, क्योंकि इन निर्गुनिया कवियों में सामाजिक विषमता का विरोध तो है, किन्तु वे राजनीतिक व्यवस्था के मुद्दे पर चुप हैं। इस लिहाज से डॉ. हाड़ा मीरा को कबीर आदि से ऊँचा स्थान देते हुए कहते हैं- ''मध्यकालीन सन्त-भक्तों की भी

जन्मान्तर व्यवस्था और कर्मफलवाद में असंदिग्ध और गहरी आस्था थी, इसलिए उनकी कविता में उनके अपने समय की सामन्तवादी व्यवस्था के स्वार्थपूर्ण हित संबंधों के प्रति असंतोष और नाराजगी का भाव लगभग नहीं के बराबर है। कबीर आदि सन्त कवि अपने समतावादी विचारों से कुछ हद तक इससे असहमत लगते हैं, अन्यथा सगुण भक्ति परम्परा में तो इस तरह की चेतना बहुत कम है। मीरा की कविता इस मामले में बहुत अलग और असाधारण है। वह सामन्ती व्यवस्था के धर्म, दर्शन और लोक द्वारा मान्य स्वार्थपूर्ण हित संबंधों को सीधे चुनौती देती है। इनको लेकर इसमें गहरा और उग्र असंतोष और मुखर विद्रोह है। मीरा की कविता इस मामले में कुछ हद तक कबीर से भी आगे है। कबीर व्यवस्था को चुनौती देते हैं, जबकि मीरा एक साक्षात और जीवित शत्रु से लोहा लेती दिखती है। उसका विद्रोह उस राज, धर्म और लोकसत्ता के विरुद्ध है जो शत्रु के रूप में उसके सामने, उसके समय में और उसके स्थान पर है। सत्ता को ललकारने का उसका स्वर अकसर बहुत उग्र और चुनौतीपूर्ण है।'' (पृ. 128)

यह पुस्तक महज 166 पृष्ठों की है जिससे इसे वृहद आकार का ग्रंथ नहीं कहा जा सकता, लेकिन इस लघु काय गागर में डॉ. हाड़ा ने सागर भरने का उद्यम किया है। इससे मीरा की जो छवि सामने आती है वह पचरंगी यानी बहुरंगी चोलावाली मीरा की है। यह पंचरंगी चोला...' सिद्ध करती है कि मीरा का व्यक्तित्व केवल गलदश्रु भावुकता वाली कृष्ण भक्ति तक सीमित नहीं था, बल्कि उसमें रूढ़ियों एवं राजसत्ता के घिनौने कृत्यों का विरोध करने का भी आखर साहस था। उसके इस साहस को कृष्णभक्ति यानी ईश्वरीय आस्था ने बल प्रदान किया, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

इस पुस्तक का महत्व मीरा के व्यक्तित्व निरूपण तक ही सीमित नहीं है, बल्कि मीरा से सम्बद्ध अनेक आख्यानों, कथाओं और जनश्रुतियों की पड़ताल करते हुए डॉ. हाड़ा ने उस समय के समाज का यथार्थपरक चित्र भी प्रस्तुत किया है जो कई भ्रांतियों का निराकरण करता है। मसलन, आधुनिकता की आँधी में स्त्रीवादी विमर्श ने यह शोर मचा रखा है कि मध्यकालीन पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष-वर्चस्व ने स्त्रियों को दोयम दर्जा दे रखा था, उन्हें जायदाद-सम्पत्ति के अधिकारों से वंचित कर दासी तुल्य बना कर रखा था। विधवा-पुनर्विवाह वर्जित था। फिर हर स्त्री पति के मरने पर सती होने को बाध्य थी। लेकिन यह बात पूरी तरह से सही नहीं है। डॉ. हाड़ा बताते हैं कि ''मीरा के समय के सती, वैधव्य, सुहाग आदि विधानों के संबंध में स्त्री विर्मशकारों की निर्भरता तत्कालीन समाज पर कम, ब्राह्मण शास्त्रों पर ज्यादा है। मीरा की व्यापक लोक स्वीकृति और मान्यता ही इस बात का पर्याप्त सबूत है कि यह समाज अन्याय के प्रतिकार का सम्मान भी करता था और इस प्रतिकार के लिए जरूरी खाद-पानी भी मुहैया करवाता था। मीरा को अन्याय के प्रतिकार और अपनी शर्तों पर जीवन यापन का साहस और सुविधाएँ इस समाज ने ही दी थीं।'' (पृ. 61)

इसी प्रकार पति के मरने पर हर विधवा का सती होना भी बाध्यकारी रिवाज नहीं था। इसका सबसे बड़ा खंड़न तो खुद मीरा ही हैं जो पति के मर जाने पर सती नहीं हुई। जहाँ तक सम्पत्ति संबंधी या अन्य पारिवारिक मामलों में अधिकारों का सवाल है, वे भी स्त्रियों को प्राप्त थे- ''यह कहना कि वे केवल पुरुषों की सम्पत्ति थीं, उनका केवल शोषण और उत्पीड़न होता था और उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे, पूरी तरह सही नहीं है। कुछ हद तक ऐसा भी होता था,

लेकिन इसके साथ इस समाज में उनके सम्मान, सुख और संरक्षण की चिन्ताएँ भी थीं। यही नहीं, इस दौरान, स्त्रियाँ प्रभावकारी ढंग से सामाजिक और राजनीतिक जीवन में हस्तक्षेप भी करती थीं और कुछ हद तक उन्हें जीवन की स्वतंत्रता भी थी।'' (पृ. 78) इसी प्रकार विधवा पुर्नविवाह के संबंध में यह तथ्य था कि ''वर्ण-व्यवस्था के ब्राह्मण आदर्श में विधवाओं का विवाह निषिद्ध था, लेकिन यह 'चाल चलगत' व्यवहार में पूरी तरह कभी नहीं आया।

मध्यकाल और उससे पहले यहाँ शिल्पी, कृषक, शूद्र और आदिवासी जातियाँ में तो विधवा विवाह आम थे और सोपान-क्रम की उच्च जातियों में भी ये पूरी तरह निषिद्ध नहीं थे।'' (पृ. 73) इस तथ्य की तरफ भी डॉ. हाड़ा ने ध्यान आकृष्ट किया है कि उस समय वर्ण-व्यवस्था ठहरी हुई नहीं थी, बल्कि गतिशील थी-''मीराकालीन समाज में धार्मिक और साम्प्रदायिक गतिशीलता से भी वर्ण और जातीय गतिशीलता बढ़ी। पहले जैन, बौद्ध और इस्लाम और मध्यकाल में भक्ति आंदोलन से यहाँ वर्ण मिश्रण और जाति परिवर्तन हुआ।'' (पृ. वही) वस्तुतः भारत में जाति-व्यवस्था को कठोर, अनमनीय साँचे में ढालने का काम पहली बार औपनिवेशिक शासन के दौरान अँग्रेजों ने 1891 ई. में मरदुमशुमारी रिपोर्ट के जरिये किया। इस तथ्य को धर्मपाल, भालचंद नेमाड़े जैसे विद्वानों ने भी अपने गवेशणात्मक लेखन में प्रमाणित किया है।

वस्तुतः डॉ. हाड़ा ने बहुत परिश्रम करके शोधपरक ढ़ंग से 'पचरंगी चोला...' तैयार किया है। यह पुस्तक न केवल मीरा के संबंध में, बल्कि मीराकालीन समाज में विद्यमान रहे स्त्री-पुरुष संबंध, वर्ण व्यवस्था, ब्राह्मणवाद, सवर्णवाद आदि के बारे में भी सही जानकारी के गवाक्ष खोलती है। मध्यकाल के समय और समाज को सही-सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिहाज से यह एक अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी पुस्तक है जिसे पढ़ कर हमारे आज के अस्मितावादी विमर्शकार अनेक भ्रांत धारणाओं के जंजाल से मुक्त हो सकेंगे। ऐसी पुस्तक लिखने के लिए निस्संदेह डॉ. माधव हाड़ा साधुवाद के पात्र हैं।

'पचरंग चोला पहर सखी री'/लेखक-डॉ. माधव हाड़ा